दयानन्द-दर्शन

आचार्य उदयवीर शास्त्री

दार्शनिक क्षेत्र में अनेक शताब्दियों से यह भावना पनपती रही है कि न केवल वैदिक-अवैदिक दर्शनों में, अपितु छः वैदिक दर्शनों में भी परस्पर विरोध है। वर्तमान युग में इस अवाञ्छनीय विचारधारा को सर्वप्रथम महर्षि दयानन्द ने चुनौती दी और दार्शनिक जगत् में इस क्रान्तिकारी तथ्य को उजागर किया, दर्शनों में कोई परस्पर विरोध नहीं, वे वस्तु तत्त्व के प्रतिपादन में एक-दूसरे के पूरक हैं।

उस क्रान्तदर्शी महर्षि ने अपने किसी अन्य दर्शन का प्रवचन नहीं किया, न कहीं यह संकेत ही दिया है कि अन्य कोई दर्शन अपेक्षित है। ऋषि ने इन्हीं प्रसिद्ध छः वैदिक दर्शनों को प्रामाणिक माना है और उन्हीं में अपनी आस्था प्रकट की है। वेदों पर आधारित अपने दार्शनिक विचारों को ऋषिवर ने इन्हीं दर्शनों का आश्रय लेकर अपनी रचनाओं में अपेक्षित प्रसंग आने पर अभिव्यक्त किया है। अनेक स्थलों पर वे विचार ऐसे हैं, जो दर्शनों की मध्यकालिक व्याख्याओं में उपलब्ध नहीं होते। इससे स्पष्ट होता है कि ऋषि दयानन्द दर्शनों की वास्तविक भावनाओं को समझने में उन भाष्यों से अभिभूत नहीं थे। उन्होंने अपनी स्वतन्त्र प्रतिभा एवं गुरु परम्परा से उन रहस्यमय गूढ़ तथ्यों को समझकर अपने दार्शनिक विचारों में उजागर किया है, जो मध्यकालिक दार्शनिक अखाड़ेबाजी की काली-पीली अन्धेरी (आंधी) में ओझल हो चुके थे।

इससे संकेत मिलता है कि ऋषि दयानन्द का कोई अतिरिक्त दर्शन नहीं है, वह इन्हीं दर्शनों को उस प्रकार व्याख्यात करने का अभिलाषी रहा, जो पारस्परिक विरोधी भावनाओं से अछूता हो। तत्त्वदर्शी ऋषि कभी अतथ्य बात नहीं कहता, क्योंकि वह तत्त्वार्थबोधन में आप्त होता है। दर्शनों के प्रवक्ता ऋषि ऐसे ही साक्षात्-कृतधर्मा 'आप्त' पुरुष थे, तब उनके कथनों में विरोध की सम्भावना कैसे हो सकती है?

भारतीय दर्शन वस्तुतः वैदिक-अवैदिक दो भागों में विभक्त माना जाता है। अवैदिक दर्शनों में चार्वाक-जैन-बौद्ध दर्शन है। वैदिक दर्शनों में छः की गणना की जाती है-न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, मीमांसा, वेदान्त। इनके यथाक्रम दो-दो के युगल को समान शास्त्र कहा जाता है, जो प्रतिपाद्य विषय की समानता अथवा सहयोगिता पर आधारित है। इनको वैदिक दर्शन इस आधार पर कहा जाता है कि इनमें आत्मसम्बन्धी तथा अनात्मसम्बन्धी वैदिक सिद्धान्तों का दार्शनिक रीति पर विवेचन एवं प्रतिपादन किया गया है। इन सभी दर्शनों में वेदों को समानरूप से प्रमाण माना गया है जबकि अवैदिक दर्शनों में ऐसा नहीं है। आत्म-अनात्मसम्बन्धी तत्त्वों से तात्पर्य स्वतन्त्र जड़-चेतन तत्त्वों की सत्ता स्वीकार करने से है।

अनेक आधुनिक विचारक वैदिक-अवैदिक दर्शनों को 'आस्तिक-नास्तिक दर्शन' के नाम से प्रस्तुत करते हैं। उक्त न्याय आदि छः आस्तिक दर्शन हैं तथा जैन, बौद्ध, चार्वाक नास्तिक दर्शन, परन्तु हरिभद्र सूरि ने अपनी रचना 'षड्दर्शन समुच्चय' में इसका व्यतिक्रम किया है। उसने जिन छः दर्शनों का अपने ग्रन्थ में विवरण प्रस्तुत किया है, उनके नाम हैं-आर्हत (जैन), बौद्ध, न्याय, वैशपिक, सांख्य, मीमांसा। इनमें वैदिक छः दर्शनों में से 'योग' तथा 'वेदान्त' का नाम नहीं है। प्रस्तुत ग्रन्थ के उपसंहार भाग से यह स्पष्ट होता है कि हरिभद्र सूरि किन दर्शनों को आस्तिक तथा किनको नास्तिक मानता है। ग्रन्थ के अन्तिम भाग में उक्त छः दर्शनों का विवरण प्रस्तुत करने के अनन्तर यह आशंका प्रस्तुत की गई है कि अनेक विद्वान् न्याय और वैशेषिक दर्शनों को एक ही दर्शन मानते हैं, उनके मत में यह विवरण पांच दर्शनों का ही रह जाता है, तब यह रचना 'षड्दर्शन-समुच्चय' कैसे कही जा सकती है?

छठे दर्शन मीमांसा का विवरण प्रस्तुत करने के अनन्तर ग्रन्थकार ने कहा-

जैमिनीयमतस्यापि संक्षेपोऽयं निवेदितः।
एवमास्तिकवादानां कृतं संक्षेपकीर्त्तनम्॥७७॥

इसके अनन्तर छः संख्या पर आशंका प्रस्तुत की

गई–

नैयायिकमतादन्ये भेदं वैशेषिकैः सह।

न मन्यन्ते मते तेषां पञ्चैवास्तिकवादिनः।।७८।।

इसका समाधान करते हुए छः संख्या की पूर्ति के लिये ग्रन्थकार कहता है–

षष्ठदर्शनसंख्या तु पूर्यते तन्मते किल।

लोकायतमतक्षेपात् कथ्यते तेन तन्मतम्।।७९।।

छठे दर्शन की पूर्ति उनके मत में लोकायत (चार्वाक) दर्शन को सम्मिलित कर लेने से हो जाती है, अतः उस दर्शन का कथन अब कर देते हैं।

हरिभद्र सूरि के उक्त श्लोकों में रेखाङ्कित पद विशेष ध्यान देने योग्य है। अपने ग्रन्थ में विवृत्त दर्शनों को वह 'आस्तिकवादी दर्शन' बता रहा है जिनको हम 'नास्तिक दर्शन' कहते हैं–जैन, बौद्ध, चार्वाक, हरिभद्र सूरि उनको 'आस्तिक दर्शन' मानता है। इससे स्पष्ट होता है, आस्तिक और नास्तिक पदों को प्रत्येक वर्ग यथाक्रम अपने और पराये के लिये प्रयुक्त करता रहा है। इसलिए किसी नियत वर्ग को बताने में इन पदों का प्रयोग उपयुक्त नहीं है।

प्रसंगवश यह विचारणीय है कि हरिभद्र सूरि ने उन दर्शनों को अपने वर्ग में किस आधार पर गिना है, जिनको हम आस्तिक दर्शन कहते हैं। न्याय, वैशेषिक, सांख्य, मीमांसा को जिस आधार पर हम आस्तिक दर्शन कहते हैं, निश्चित ही वह आधार सूरि के आस्तिक दर्शन का नहीं है। अन्यथा सभी दर्शन आस्तिक कहे जाते अथवा सभी नास्तिक। वस्तुतः हरिभद्र के आस्तिकवाद का आधार 'अनीश्वरवादी' होना है। दर्शनों के मध्यकालिक व्याख्याकारों ने सांख्य, मीमांसा, वैशेषिक आदि को निरीश्वरवादी दर्शन समझकर उनके व्याख्यान किये हैं। उन दर्शनों के विषय में वेदानुयायी विद्वानों की भी अभी तक ऐसी ही धारणा है। चार्वाक, बौद्ध, जैन दर्शन ईश्वर के अस्तित्व को स्वतः स्वीकार नहीं करते। जैन-मतानुयायी हरिभद्र सूरि ने इसी आधार पर उन दर्शनों को अपने वर्ग में गिना है।

जिन मध्यकालिक व्याख्याकारों ने सांख्य आदि दर्शनों की निरीश्वरवादी व्याख्या की है, उन्होंने भी इस तथ्य को पूर्णरूप से स्वीकार किया है कि ये सभी दर्शन एक स्वर से वेद को निर्भ्रान्त प्रमाण मानते हैं। इसलिए इन दर्शनों को 'वैदिक' दर्शन कहना अधिक उपयुक्त है। इनसे अतिरिक्त दर्शन अवैदिक हैं। यद्यपि महर्षि दयानन्द ने अपनी रचनाओं में इस वास्तविकता को भी बलपूर्वक प्रमाणित किया है कि सांख्य आदि दर्शन ईश्वर के अस्तित्व को पूर्णरूप से स्वीकार करते हैं।

दर्शनों के विभाग का यह आधार माने जाने पर वैदिक एवं अवैदिक दर्शनों के प्रतिपाद्य विषय, विचार-प्रणाली तथा तत्त्व-प्रतिपादन की पद्धति में परस्पर अनुकूलता न हो, यह स्वाभाविक है, पर वैदिक कहे जाने वाले दर्शनों में भी मुख्य विषयों तक में विरोध की संभावना की जाये तो यह अत्यन्त विचारणीय हो जाता है। प्रक्रिया के साधारण या छोटे-मोटे आभास्यमान विरोध की उपेक्षा की जा सकती है। यदि इतना भी न हो तो दर्शनों की छः संख्या ही निराधार हो जाय, सब कुछ समान होने पर तो दर्शन एक ही मान लिया जाय। पर जब मुख्य विषय का भेद सामने आता है तो समस्या खड़ी हो जाती है। यदि दर्शनशास्त्रों में परस्पर ऐसा भेद वास्तविक है और यह सब प्रतिपादन वेदमूलक है जो एक वैदिक दर्शन में होना चाहिये, तो यह भेद-सूत्र वेद तक जा पहुँचता है। यदि वहाँ पर भी दार्शनिक भित्ति के इतने भेद विद्यमान हैं तो वेद अमान्यता की कोटि में प्रवेश पा सकते हैं। सच्चाई सदा एक है। विरुद्धार्थक प्रतिपादक शास्त्र की मान्यता कैसे सम्भव हो सकती है? इन शास्त्रों के प्रवक्ताओं का साक्षात्कृतधर्मा तथा आप्त होना भी सन्देह में पड़ जाता है।

बौद्धदर्शन के अभ्युत्थान काल में वैदिक दर्शनों में पारस्परिक विरोधी भावनाओं को उभारने का विभिन्न प्रकारों से प्रयत्न किया गया, जो प्रचार की प्रबलता एवं कालिक अवसर पाकर बद्धमूल हो गया और अनन्तरवर्ती आचार्यों द्वारा उसी छाया में दर्शनों के व्याख्यान होते रहे। इन व्याख्याकारों ने उन विचारों को पर्याप्त हवा दी वह एक ऐसा रूप खड़ा हो गया, जिसके प्रतिकूल कुछ भी कहने का कोई आचार्य उस समय साहस नहीं कर सकता था। कुमारिल, शङ्कर, रामानुज सदृश मुनिकल्प प्रकाण्ड विद्वानों ने भी खुंदी हुई पद्धति का ही अनुगमन किया। अब ऐसा प्रतीत होता है कि कदाचित् ये आचार्य उस क्रान्तदर्शिता

के उच्चस्तर पर पहुँचने से वञ्चित रह गये, प्रशस्त पथ-निर्माण की क्षमता के लिए जिसकी अपेक्षा रहती है। यद्यपि इन महान् आत्माओं ने अपने समय में वैदिक धर्म की सेवाओं के लिए अपना जीवन तक अर्पण कर अत्यन्त अभिनन्दनीय प्रयास किये।

पिछली अनेक शताब्दियों में सबसे पहला महामानव महर्षि दयानन्द हुआ है, जिसने दर्शनों की इस दिशा पर गम्भीरता से दृष्टिपात किया और घोषणा की कि वैदिक दर्शनों में तथाकथित पारस्परिक विरोध की उद्भावना करना नितान्त भ्रान्तिमूलक है। सत्यार्थप्रकाश के अष्टम समुल्लास में एक स्थल पर लेख है-

''(पूर्वपक्ष) सृष्टि विषय में.....शास्त्रों का अविरोध है वा विरोध? (उत्तरपक्ष) अविरोध है। (पूर्वपक्ष) जो अविरोध है तो.........मीमांसा में कर्म, वैशेषिक में काल, न्याय में परमाणु, योग में पुरुषार्थ, सांख्य में प्रकृति और वेदान्त में ब्रह्म से सृष्टि की उत्पत्ति मानी है। अब किसको सच्चा और किसको झूँठा मानें? (उत्तरपक्ष) इसमें सब सच्चे, कोई झूँठा नहीं। झूँठा वह है जो विपरीत समझता है। ....विरोध उसको कहते हैं कि एक कार्य में एक ही विषय पर विरुद्ध वाद होवे। छः शास्त्रों में अविरोध देखो इस प्रकार है। **मीमांसा में**-ऐसा कोई भी कार्य जगत् में नही होता कि जिसके बनाने में कर्म चेष्टा न की जाये। **वैशेषिक में**- समय न लगे बिना बने ही नहीं, **न्याय में**-उपादान कारण न होने से कुछ भी नहीं बन सकता, **योग में**- विद्या, ज्ञान, विचार न किया जाये, तो नहीं बन सकता, **सांख्य में**-तत्त्वों का मेल न होने से नहीं बन सकता और **वेदान्त में**- बनाने वाला न बनावे तो कोई भी पदार्थ उत्पन्न न हो सके। इसलिये सृष्टि छः कारणों से बनती है। उन छः कारणों की व्याख्या एक-एक की एक-एक शास्त्र में है। इसलिये उनमें विरोध कुछ भी नहीं।''

यह एक दिग्दर्शनमात्र है। इस लेख द्वारा महर्षि ने उस निर्बाध दिशा की ओर संकेत किया है। यदि इस सांकेतिक सुझाव के अनुसार गम्भीरतापूर्वक विचार किया जाये तो दर्शनों में भ्रमपूर्ण भावनाओं से उद्भावित उस तथाकथित भेद की घाटी को आसानी से पार किया जा सकता है। कोई भी विचारशील विद्वान् यह अनायास समझ सकता है कि वैदिक दर्शनों की रचना परस्पर विरोधी अर्थों का प्रतिपादन करने के लिये नहीं हुई, प्रत्युत अपने मुख्य प्रतिपाद्य विषय का विशद विवरण प्रस्तुत करते हुए उस अंश में अन्य शास्त्रीय अर्थों की पूर्ति के लिये हुई है।

दर्शनों का उद्देश्य सृष्टि रचना की प्रक्रिया को पूर्णाङ्गरूप में प्रस्तुत करना है। ऋषि ने संकेतमात्र से उस पद्धति को सुझाया, जिसके अनुसार विवेचन करते हुए सृष्टि के उन आंशिक विवरणों को एक-एक दर्शन में स्पष्ट रूप से देख सकते हैं।

वैशेषिक में कणाद ने सृष्टि रचना के केवल उन तत्त्वों तक विवेचन प्रस्तुत किया है, जो मानव अथवा प्राणिमात्र के चारों और फैले स्थूल जगत् के सीधे सन्निहित उपादान तत्त्व हैं। यह आधिभौतिक जगत् का स्थूल विवेचन है। अन्य दर्शनों के प्रतिपाद्य विषय का निषेध नहीं।

सांख्य में कपिल ने उन उपादान तत्त्वों की अन्तिम सीमा तक विवेचना प्रस्तुत की है। कणाद अपने विवेचन को पृथिवी आदि के सूक्ष्म कण तक ले जाकर छोड़ देता है। वह इतना ही पाठ सिखाना चाहता है। आगे के पाठ का वह निषेध नहीं करता। कपिल के शिक्षाकेन्द्र में वह पाठ अन्तिम सीमा तक पूरा किया जाता है। जैसे पृथिवी आदि परमाणु से स्थूल पृथिवी उभरती है, वैसे ही वह परमाणु भी अपने मूल कारणों से परिणत होता हुआ पृथिवी-कण (परमाणु) के रूप में उभर आता है।

सत्यार्थप्रकाश के अष्टम समुल्लास से जो सन्दर्भ प्रथम उद्धृत किया गया है, उसी के आगे ऋषि ने एक संस्कृत-सन्दर्भ इस प्रकार लिखा है-

''नित्यायाः सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्थायाः प्रकृतेरुत्पन्नानां परमसूक्ष्माणां पृथक् पृथग्वर्त्तमानानां तत्त्वपरमाणूनां प्रथमः संयोगारम्भः, संयोगविशेषादवस्थान्तरस्य स्थूलाकारप्राप्तिः सृष्टिरुच्यते।''

शेष भाग अगले अंक में.....

सब व्यवहार करने वालों को चाहिये कि जो मनुष्य जिस काम में चतुर हो उसको उसी काम में प्रवृत्त करें।

-महर्षि दयानन्द, यजुर्वेद, भावार्थ ८.२०

ऐतिहासिक कलम....

दयानन्द-दर्शन

आचार्य उदयवीर शास्त्री

पिछले अंक का शेष भाग......

ऋषि ने स्वयं इस सन्दर्भ का अर्थ इस प्रकार किया है-

''अनादि नित्यस्वरूप सत्त्व, रजस् और तमोगुणों की एकावस्थारूप प्रकृति से उत्पन्न जो परमसूक्ष्म पृथक्-पृथक् तत्त्वावयव विद्यमान हैं उन्हीं का प्रथम ही जो संयोग का आरम्भ है, संयोग विशेषों से अवस्थान्तर दूसरी अवस्था को सूक्ष्म स्थूल बनते-बनाते विचित्र रूप बनी है इसी से यह संसर्ग होने से सृष्टि कहाती है।''

इस सन्दर्भ से स्पष्ट होता है, सत्त्व-रजस्-तमस् की साम्यावस्थारूप नित्य प्रकृति को ऋषि समस्त जड़-जगत् का मूल उपादान कारण मानता है। प्रकृति से रचना प्रारम्भ होने पर परिणाम होते-होते किसी एक स्तर पर परमसूक्ष्म कण के रूप में पृथिवी आदि परमाणु उत्पन्न होते अथवा उभर आते हैं। इन्हीं परमाणुओं का परस्पर संयोग होकर स्थूल पृथिवी आदि तत्त्व प्रकाश में आ जाते हैं।

सांख्य-योग में इन सूक्ष्म पृथिवी आदि कणों (परमाणुओं) का पारिभाषिक नाम **'विशेष'** है। इन्हीं विशेषों को मूल मानकर कणाद ने अपने शास्त्र का आरम्भ किया। इसी कारण शास्त्र का नाम **'वैशेषिक'** हुआ। **'विशेषमधिकृत्य प्रवर्त्तते शास्त्रं वैशेषिकम्।'** इस प्रकार आधिभौतिक जगद्रचना की पूर्ण प्रक्रिया का विवरण वैशेषिक और सांख्य मिलकर करते हैं। इनमें विरोध की संभावना भी नहीं है।

न्याय-दर्शन मुख्य रूप से केवल उन प्रमाणों का वर्णन करता है, जिनके सहयोग से आधिभौतिक आदि समस्त तत्त्वों का ऊहापोहपूर्वक यथायथ विवरण प्रस्तुत किया जाता है। प्रमाण के लक्ष्य-निर्देश की भावना से न्याय में केवल एकमात्र प्रमेय आत्म-तत्त्व का विवेचन है तथा उसी से सम्बद्ध शरीर, इन्द्रिय आदि का। शेष समस्त दर्शन प्रमाणों के दोषरहित स्वरूप का विवरण प्रस्तुत करने में पूरा हुआ है।

योग-दर्शन सांख्य के एक अङ्ग को पूरा करता है। सांख्य में तत्त्वों का विवेचन इस प्रयोजन से हुआ है कि प्रकृति और पुरुष (जड़-चेतन) के पारस्परिक भेद के साक्षात्कार का मार्ग खुल सके। उस भेद का साक्षात्कार करने की पूर्ण पद्धति को यह दर्शन प्रस्तुत करता है। इस प्रकार जड़-चेतन भेद के साक्षात्कार ज्ञान की योग प्रतिपाद्य इन प्रक्रियाओं के मुख्य साधनभूत मन अथवा अन्त:करण की जिन विविध अवस्थाओं के विश्लेषण का योग में वर्णन किया गया है, वह मनोविज्ञान की विभिन्न दिशाओं का एक केन्द्रभूत आधार है। समाज की समस्त गतिविधियों की डोर इसी के हाथ में रहती है। इसका किसी भी शास्त्र से विरोध कैसे संभव है?

मीमांसा-दर्शन कर्त्तव्य-अकर्त्तव्यों का विश्लेषणात्मक विवेचन प्रस्तुत करता है। समाज के लिये उन अनुष्ठानों का वर्णन करता है, जो वर्त्तमान में उसके अभ्युदय और मृत्यु के अनन्तर कल्याण के साधन हैं। यह उन मनोदशाओं का प्रदीप है, जो अन्तर्निविष्ट रहती हुई समाज को विविध प्रकार के खेल खिलाया करती हैं। कोई ऐसा दर्शन नहीं, जो इसका विरोध करे। यह सभी को मान्य है।

वेदान्त-दर्शन समस्त विश्व के संचालक, नियन्ता चेतन तत्त्व का विवरण प्रस्तुत करता है। जगत् के कर्त्ता-धर्त्ता-संहर्त्ता के रूप में प्रत्येक शास्त्र ने इसे स्वीकार किया है। कोई इसका प्रतिषेध नहीं करता। वेदान्त का तात्पर्य केवल ब्रह्म के अस्तित्व एवं शुद्ध स्वरूप को उपपादन करने में है, अन्य तत्त्वों के प्रतिषेध में नहीं।

इस प्रकार सृष्टि-प्रक्रिया में अपेक्षित तत्त्वों का इन सभी दर्शनों में उपपादन हुआ। एक दर्शन का कोई एक विषय मुख्य प्रतिपाद्य है, अन्य प्रासङ्गिक हैं, जिनका अन्य दर्शनों में मुख्यतया प्रतिपादन हुआ है। इनमें विरोध की भावना न होकर अपेक्षित अङ्ग को पूर्ण करना मात्र ध्येय रहता है। इनमें आंशिक प्रक्रिया भेद भले हो, जो आवश्यक है। इस दृष्टि से निम्नलिखित विषयों पर संक्षिप्त विचार प्रस्तुत किया जाता है। प्राय: इन्हीं को विरोध के रूप में

मुख्यतया प्रस्तुत किया जाता है। वे विषय हैं-वेद-प्रामाण्य, ईश्वर का अस्तित्व, प्रमाणवाद, सत्कार्य-असत्कार्यवाद।

वेद-प्रामाण्य छहों दर्शनों में वेद के प्रति अत्यन्त आदरपूर्ण भावना प्रकट की गई है। कोई दर्शन ऐसा नहीं जहाँ वेद का निर्भ्रान्त प्रामाण्य स्वीकार न किया गया हो। 'स्वत:प्रामाण्य' और 'परत:प्रामाण्य' इन पदों की व्याख्या में भले ही प्रक्रिया का अन्तर हो, पर वेद के प्रामाण्य के लिये अन्य किसी के सहयोग या सहारे की अपेक्षा है- यह किसी को अभिमत नहीं है। किसी सिद्धान्त को वेद के आधार पर प्रकट कर देने पर वह उसका परिनिष्ठित स्तर मान लिया जाता है। विस्तार-भय से इस विषय के दर्शनसूत्रों का यहाँ उल्लेख नहीं किया गया।

ईश्वर का अस्तित्व-इसको सभी दर्शनों ने स्वीकार किया है। इस विषय में सबसे अधिक डिण्डिम घोष सांख्यदर्शन के लिये किया जाता है। ऐसा कहने वालों का विचार है कि ईश्वर का अस्तित्व जगत् के निर्माण व नियन्त्रण की दृष्टि से माना जाता है। पर सांख्य इस दिशा में प्रकृति को स्वतन्त्र मानकर ईश्वर की उपेक्षा कर देता है।

इस विषय में पहली बात है-कपिल के किसी सूत्र या कथन से यह स्पष्ट नहीं होता कि प्रकृति स्वतन्त्र है। सांख्य षडध्यायी और तत्त्वसमास सूत्रों में कोई ऐसा पद नहीं जो उक्त अर्थ को प्रकट करता हो। कतिपय व्याख्याकारों ने सांख्य-सिद्धान्त का उल्लेख करते हुए लिखा है कि सांख्य में प्रकृति को स्वतन्त्र माना गया है। यदि उनका 'स्वतन्त्र' पद से यह अभिप्राय है कि जगद्रचना में प्रकृति चेतन की अपेक्षा नहीं रखती, ईश्वर-चेतन की प्रेरणा के बिना ही जगद्रचना किया करती है, तो यही कहना होगा कि उन विद्वानों को कपिल सिद्धान्त समझने में भ्रम हुआ है।

यदि 'स्वतन्त्र' पद का यह तात्पर्य समझा जाता है कि प्रकृति उपादान कारण की सीमा में अन्य किसी के अस्तित्व को सहन नहीं करती, केवल मात्र वही उपादान तत्त्व है, इतने अंश में उसका और कोई सहयोगी नहीं, इसी दृष्टि से उसे 'स्वतन्त्र' कहा गया है, तो यह ठीक है। कपिल ने जगत् के उपादानरूप में प्रकृति के अतिरिक्त अन्य किसी तत्त्व को स्वीकार नहीं किया। फलत: ईश्वर चेतन की प्रेरणा के बिना स्वत: प्रकृति जगत् का निर्माण करती रहती है और यही उसकी स्वतन्त्रता है, यह कपिल सिद्धान्त प्रकट करना सर्वथा निराधार है। आचार्य वार्षगण्य का ऐसा सिद्धान्त रहा है, कपिल का नहीं।

सांख्यदर्शन के 'ईश्वरासिद्धे:' सूत्र में उपादानभूत ईश्वर को असिद्ध बताया गया है, ईश्वर के अस्तित्व को नहीं नकारा गया। ऋषि दयानन्द ने सत्यार्थप्रकाश सप्तम समुल्लास के ईश्वर-प्रकरण में सूत्र का यही अर्थ बताया है। कपिल ने स्वयं सांख्यसूत्र (३/५६,५७) में ईश्वर को स्पष्ट ही जगत्कर्त्ता लिखा है। इसी प्रसंग में ऋषि दयानन्द ने सांख्य का एक और सूत्र (५/८) उद्धृत कर उसका अर्थ किया है-''इसलिये परमेश्वर जगत् का उपादान कारण नहीं, किन्तु निमित्त कारण है। कपिल के समान अन्य भी सब दर्शनकारों ने ईश्वर के अस्तित्व को पूर्णरूप से स्वीकार किया है।''

प्रमाण-प्रमाण से अर्थ की सिद्धि होती है, इस मूल सिद्धान्त के स्वीकार करने से प्रमाण के अस्तित्व में किसी को नकार नहीं। परन्तु प्रमाणों की संख्या में विरोध का उद्भावन किया जाता है। विभिन्न दर्शनों में एक से लेकर आठ प्रमाण तक माने गये हैं। चार्वाक दर्शन में केवल एक प्रत्यक्ष प्रमाण स्वीकार्य है। वैशेषिक और बौद्ध दर्शन में प्रत्यक्ष और अनुमान दो प्रमाण हैं। सांख्य-योग में शब्द प्रमाण को पूर्वोक्त दो में जोड़कर तीन प्रमाण माने हैं। न्यायदर्शन में उपमान को जोड़कर चार संख्या बताई। मीमांसा और वेदान्त में इनके अतिरिक्त अर्थापत्ति और अनुपलब्धि ये दो प्रमाण और बताकर छ: माने गये। कुछ प्राचीन नैयायिक तथा पुराण ऐतिह्य और सम्भव ये दो अधिक बताकर आठ प्रमाण मानते हैं।

इस विषय में यह निश्चित मत है कि वस्तु-सिद्धि में किसी भी उपयुक्त प्रकार को अस्वीकार नहीं किया जाता, फिर प्रवक्ता और बोद्धारूप में अनेक प्रकार के अधिकारी होते हैं। उनके स्तर एवं परिस्थिति के अनुसार वस्तु तत्त्व को स्पष्ट करने के लिये तदुपयोगी प्रक्रियाओं को मान लिया जाता है, यद्यपि वे प्रकार अधिक व्यवस्थित प्रक्रियाओं के अन्तर्गत ही होते हैं। इसलिये जिन दर्शनों में प्रमाणों की संख्या न्यून मानी गई है, वे भी शेष को प्रमाण माने जाने का विरोध नहीं करते। उनका कहना है कि इनको अतिरिक्त

प्रमाण मानने की आवश्यकता नहीं। वैसे यदि उनका उपयोग कहीं अपेक्षित है, तो इसमें उन्हें कोई आपत्ति न होगी।

ऋषि दयानन्द ने अपने ग्रन्थों में जहाँ-तहाँ आठ प्रमाणों का उल्लेख कर इसी अर्थ को स्पष्ट किया है। फलतः इस विषय के आधार पर भी जो परस्पर विरोध की भावना प्रकट की जाती है, उसे निराधार ही समझना चाहिये।

सत्कार्य-असत्कार्यवाद-यह वाद वस्तुओं के कार्य-कारणभाव पर आश्रित है। जो वस्तु कार्य है, उसका उपादान कारण कोई अवश्य होगा। कार्य वह वस्तु है, जो अपने कारणों से उत्पन्न होती या जनी जाती है। प्रश्न यह है-वह वस्तु जो अपने कारणों से जनी गई है, उस जन्म से पहले भी वह अपने उपादान कारण में है, या नहीं? ''है'' यह सत्कार्य सिद्धान्त है। इसका अभिप्राय है, प्रत्येक कार्यवस्तु अपने जन्म से पहले भी अपने उपादान कारणों में विद्यमान रहती है। ''नहीं'' यह असत्कार्यवाद है। अर्थात् कोई भी कार्य अपनी उत्पत्ति से पूर्व अपना अस्तित्व नहीं रखता। स्पष्ट ही ये वाद परस्पर विरुद्ध प्रतीत होते हैं।

असत्कार्यवाद का तर्क है-यदि बुने जाने से पहले ही कपड़ा धागों में विद्यमान है, तो फिर बुने जाने की आवश्यकता क्या है? तथा जो काम कपड़े से लिया जाता है, वह धागों से ले लेना चाहिये। पर व्यवहार में ऐसा संभव नहीं, धागों को बिना बुने काम नहीं चलता, और कपड़े का काम भी धागों से नहीं लिया जाता। स्पष्ट है, बुने जाने से पहले कपड़ा नहीं था, बुने जाने पर बना। इसलिये उत्पत्ति से पूर्व कार्य को असत् माना जाना युक्त एवं व्यवहार के अनुकूल है।

इस पर सत्कार्यवाद का तर्क आगे आता है-यदि धागों में कपड़ा नहीं है, तो जैसे धागों में नहीं है, वैसे मट्टी के डलों में भी नहीं है। धागों और डलों में कपड़े का समान रूप से अभाव है। तो जैसे धागों से कपड़ा उत्पन्न होता है, वैसे डलों से क्यों नहीं होता? यदि डलों से नहीं होता, तो धागों से भी नहीं होना चाहिये। पर व्यवहार में ऐसा नहीं देखा जाता। हम जानते और देखते हैं, कपड़ा धागों से बनता है, डलों से नहीं। स्पष्ट है कि जहाँ जो वस्तु है, वहीं से निकलेगी। इससे धागों में कपड़े की विद्यमानता जानी जाती है। फलतः अपने प्रकट होने से पहले भी कार्य कारण में विद्यमान रहता है।

असत्कार्यवाद का यहाँ कहना है-यदि कार्य की सत्ता पहले से है, तो उसके लिये प्रयत्न क्यों किया जाता है? सत्कार्यवाद का उत्तर है-कारणों में छिपे हुए (अन्तर्हित) कार्य को प्रकट करने के लिये प्रयत्न किया जाता है, परन्तु असत्कार्यवाद इसका क्या समाधान करता है? कि कपड़ा बनाने के लिये धागों का ही क्यों संग्रह किया जाता है, डलों का क्यों नहीं? तथा घड़ा बनाने के लिये डलों का ही क्यों संग्रह किया जाता है, धागों का क्यों नहीं? जबकि दोनों जगह कार्यों का अभाव समान रूप से विद्यमान रहता है। इस संघर्ष का समाधान **महर्षि गौतम** ने **न्यायदर्शन** के एक सूत्र (४/१/५०) द्वारा किया-

''बुद्धिसिद्धन्तु तदसत्।''

वह कार्य जो उत्पत्ति से पूर्व असत् कहा जाता है, वस्तुतः उसका अस्तित्व बुद्धिसिद्ध रहता है। इसका अभिप्राय है-एक व्यवस्था देखी जाती है कि नियत कारणों से ही कोई कार्य-विशेष उत्पन्न होता है। प्रत्येक कार्य प्रत्येक कारण से उत्पन्न नहीं होता। इससे यह परिणाम निकलता है कि कार्य का निर्माता अपनी बुद्धि द्वारा इस स्थिति को जानता है कि इन कारणों से अमुक कार्य उभर सकता या उत्पन्न हो सकता है। कार्य की आकृति लम्बाई, चौड़ाई, गोलाई, छोटाई, बड़ाई आदि प्रत्येक स्वरूप का उसे ज्ञान है कि इस कारण से मैंने इस-इस प्रकार का कार्य बनाना या प्रकट करना है। वह उस कार्य के नियत स्वरूप को उन कारणों में अन्तर्हित जानता है। कारणों में छिपा हुआ कार्य का स्वरूप उसे अभिव्यक्त है, उसी नियत धारणा के साथ वह प्रयत्न करता है और जोड़-तोड़ तथा काट-छांट कर उसी धारणा के अनुसार कार्य प्रकट में आ जाता है। यदि ऐसा न हो, तो कभी कोई नियत अवयव-सन्निवेश का कार्य उभार में नहीं आ सकता। फिर तो **'नारदं कुर्वाणो वानरं चकार'** वाली कहावत ही सामने आयेगी।

कार्य-कारण की इस परिस्थिति को गम्भीरता से समझने पर यह परिणाम स्पष्ट होता है कि गौतम के विचार के अनुसार भी कारण में कार्य का अस्तित्व 'स्व' रूप से तो नहीं, पर निर्मातृबुद्धि द्वारा उसकी रूप-रेखा का निश्चय

कारणों के रूप में अवश्य रहता है। यदि यह वर्णन यथार्थ है तो विरोध की परिस्थिति यहाँ आकर अपना दम तोड़ जाती है। **सत्कार्यवाद** में भी कार्य के प्रकट होने से पहले कार्य के अभिव्यक्त 'स्व' रूप के अस्तित्व को स्वीकार नहीं किया जाता, प्रत्युत अनभिव्यक्त कार्यरूप ही कारणरूप में अन्तर्हित माना जाता है। इस प्रकार वस्तु तत्त्व के वर्णन करने की रीति में भले ही कुछ अन्तर हो, पर मन्तव्य अर्थ लगभग एक स्तर पर आ जाता है।

अन्य भी अनेक दार्शनिक विषयों व सिद्धान्तों पर प्रकाश डालकर महर्षि दयानन्द ने उनकी यथार्थ दिशा को समझने का प्रयास किया है। जीवात्मा-परमात्मा का भेद, जगत् के उपादान और निमित्त कारणों का एक न होना, सांख्य की प्रकृति और वैशेषिक के परमाणु का जगत्सर्ग की प्रक्रिया में स्थान, मोक्ष से पुनरावर्त्तन आदि ऐसे ही सिद्धान्त हैं।

महर्षि प्रदर्शित दार्शनिक विचारों की छाया में दर्शन शास्त्र का अध्ययन, वैदिक दर्शनों के तथाकथित विरोध की भावना को परास्त कर उनके पारस्परिक सहयोग की भावना को उभारता है। इसी रूप में इन छः वैदिक दर्शनों के व्याख्यान 'दयानन्द दर्शन' है। इस नाम से किसी अतिरिक्त दर्शन की कल्पना ऋषि के साथ अन्याय होगा। ऋषि ने इन्हीं दर्शनों को प्रमाण मान अपनी रचनाओं में स्थान-स्थान पर उल्लिखित किया है, पर उन्हीं सिद्धान्तों के साथ, जो ऋषि ने इन दर्शनों के आधार पर प्रकट किये हैं।

अतिथि-यज्ञ के होताओं से अनुरोध

अतिथि-यज्ञ के होताओं से उनकी वैवाहिक वर्षगाँठ अथवा जन्मदिन व विभिन्न अवसरों पर ५१०० रु. प्रतिवर्ष सभा को प्राप्त होते रहते हैं। जो महानुभाव संकल्प के साथ इस पुनीत कार्य से जुड़े हुए हैं, उनसे हमारा अनुरोध है कि वे अपनी राशि भेजते समय **जन्मतिथि/ वैवाहिक वर्षगाँठ आदि व दूरभाष संख्या** सूचित करना न भूलें। साथ ही यह भी अवश्य सूचित करा देवें कि पहले से भिजवा रहे हैं अथवा नया शुरू किया है। आप अपनी राशि सभा के बैंक खाते में नकद अथवा चैक द्वारा जमा करा सकते हैं।

ऋषि मेला २०१७ हेतु स्टॉल आवंटन

प्रति वर्ष की भांति इस वर्ष ऋषि मेला २७, २८, २९ अक्टूबर शुक्र, शनि, रविवार २०१७ को ऋषि उद्यान में आयोजित होगा। उसमें आर्य जगत् का साहित्य, हवन सामग्री, अन्यान्य सामग्री की स्टॉल लगती हैं। प्रति स्टॉल किराया १००० रु. निर्धारित है। जिसकी राशि पहले जमा होगी उसी क्रम से स्टॉल का आवंटन होगा। जिन महानुभावों को जितनी स्टॉल की आवश्यकता है, उसी अनुरूप राशि बैंक ड्राफ्ट द्वारा या नकद जमा करावें।

स्टॉल सुविधा:- कारपेट, दो टेबल, दो कुर्सी, २ ट्यूब लाइट प्रति स्टॉल। **स्टॉल साइज-** ७.५×१५ फीट।

ध्यातव्य- १. स्टॉल में रखी टेबल, कुर्सी आदि पूर्व निर्धारित सामग्री को इधर-उधर या अन्य स्टॉल में न बदलें। **२.** अतिरिक्त सामग्री की आवश्यकता हो तो टैन्ट हाउस के कर्मचारी से सम्पर्क कर प्राप्त करें तथा निर्धारित राशि तुरन्त भुगतान करें। **३.** बिस्तर, रजाई, चादर, तकिया को टेन्ट हाउस कर्मचारी से प्राप्त कर निर्धारित राशि जमा करा दें। **४.** स्टॉल व्यवस्थापक से स्टॉल संख्या, राशि की रसीद दिखाकर प्राप्त करें। बिना पूर्व अनुमति के स्टॉल में सामान न रखें, न अधिकृत करें। **५.** आपके सक्रिय सहयोग व अनुशासन की अपेक्षा है। अनियमितता को स्थान न देवें। ६. अपना मोबाइल (चलभाष) नवम्बर देना अति आवश्यक है। ७. आप अपना स्थाई पता अवश्य देवें। ८. स्टॉल में आप पुस्तकें/दवाइयाँ/अन्य सामग्री का उल्लेख अवश्य करें। ९. स्टॉल आवंटन हेतु अग्रिम राशि जमा करावें, अन्यथा विचार सम्भव नहीं होगा। १०. एक पासपोर्ट फोटो भिजवावें, जो परिचय पत्र के साथ अंकित हो। उसमें स्टॉल आवंटन संख्या भी अंकित किया जाएगा। ११. स्टॉल आवंटन की सूचना निर्धारित अवधि में दी जायेगी। **नोट:-** किसी प्रकार का अवैदिक साहित्य एवं सामग्री न हो अन्यथा उचित कार्यवाही सम्भव होगी।